दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

वर्ष : १
अंक : ७

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

पौष
२४७२

★

आत्मधर्म नियमित निकलेगा

हम यह भलीभाँति जानते हैं कि किसी भी कार्य में अनियमितता बहुत कष्टकर होती है, और उसमें भी पत्र संबंधी अनियमितता तो बहुत ज्यादह आकुलता का कारण बन जाती है। किन्तु अभी तक हम आत्मधर्म को नियमित प्रगट नहीं कर पाने के लिये लाचार थे।

लेकिन अब यह प्रगट करते हुये हमें हर्ष हो रहा है कि आत्मधर्म की नई व्यवस्था हो गई है, जिससे अब 'आत्मधर्म' नियमित प्रगट हुआ करेगा।

आत्मधर्म का यह सातवाँ अंक है। आठवाँ अंक फाल्गुन कृष्णा ३० तक और नौवाँ फाल्गुन शुक्ला ५ तक प्रगट हो जायगा। इसके बाद १०, ११, १२ वाँ संयुक्तांक चैत्र शुकला १३ तक 'महावीर जयन्ती अंक' के रूप में ५२ पृष्ठ का निकलेगा।

इस प्रकार पूरे एक वर्ष के भीतर ही पाठकों के पास बारहों अंक पहुँच जायंगे। आशा है, इस नियमित व्यवस्था से ग्राहकों को संतोष होगा, और वे अभी तक की अनिवार्य अनियमितता के लिये हमें क्षमा करेंगे। -प्रकाशक

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

एक अंक
पाँच आना

★ आत्मधर्म कार्यालय (सुवर्णपुरी) सोनगढ़ काठियावाड ★

शुद्ध के लक्ष से शुभ राग की मर्यादा

(प.पू. सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के प्रवचन में से)

चार ज्ञान के स्वामी श्री गणधदेव भी निरंतर निर्विकल्प ध्यान में स्थिर नहीं रह सकते, इसलिये वे अशुभ में नहीं जाने के लिये और विशेष ज्ञान का मनन करने के लिये साक्षात् तीर्थंकर प्रभु का उपदेश बारंबार सुनते हैं। तथा वे अपने पदानुसार शुभभाव में (जब वे छठ्ठे गुणस्थान में होते हैं तब) भी प्रवर्तमान रहते हैं। गृहस्थों को तो अशुभराग के निमित्त बहुत हैं, इसलिये उन्हें अशुभराग से बचने के लिये बार-बार यथार्थ तत्त्व का उपदेश और उपर्युक्त शुभ व्यवहार अंगीकार करना चाहिये। किन्तु याद रहे कि उस शुभराग की मर्यादा पुण्यबंधन तक है; उससे धर्म प्राप्ति नहीं होती। फिर भी परमार्थ रुचि में आगे बढ़ने के लिये बारंबार धर्म का श्रवण और मनन करना होता है।

जिसे संसार रुचि है, वह बारंबार नाटक-सिनेमा देखता है, उपन्यास पढ़ता और सुनता है, नवीन की जल्दी से जल्दी जानकारी प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार जिसे धर्म रुचि है वह धर्मात्मा यथार्थ तत्त्व का बारंबार परिचय प्राप्त करके अशुभ से बचने और स्वस्वरूप में और स्थिर होने के लिये बारंबार शास्त्र स्वावध्याय करता है, उपदेश सुनता है, जिन प्रतिमा का दर्शन, पूजन करता है, गुरु-भक्ति आदि शुभभाव से प्रवृत्त होता है, और राग को दूर करने की ओर दृष्टि रख कर उसमें प्रवृत्ति करता है।

विशेष राग दूर करने के लिये पर द्रव्यावलंबन को त्यागरूप अणुव्रत, महाव्रतादि का ग्रहण करके समिति गुप्तिरूप प्रवृत्ति, पंच-परमेष्ठी का ध्यान और सत्संग तथा शास्त्राभ्यास इत्यादि करता है। यह सब अशुभ से बचने और वीतरागी गुण की रुचि बढ़ाने के लिये है।

आपसे इतनी आशा की जाती है

हमें आत्मधर्म के पाठकों से यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि आत्मधर्म पत्र कैसा है? इसका प्रत्येक लेख पाठकों को अध्यात्मरत बना देता है, और वे इसमें वह पाते हैं जो उनने पहले कभी नहीं पाया था।

जबकि यह बात है तब आप अकेले ही क्यों अध्यात्मरस का पान करें? दूसरों को भी इसका स्वाद लेने में निमित्त बनिये। बस, इसीलिये आपसे इतनी आशा की जाती है कि आप एक नया ग्राहक बनाकर उनका पता 'आत्मधर्म कार्यालय सोनगढ़ (काठियावाड़)' भेज दीजिये।

मुद्रक—चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दासकुंज, मोटा आंकडिया, काठियावाड़; ता. ३-१-४६

प्रकाशक—जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, सुवर्णपुरी-सोनगढ़-काठियावाड़

ॐ

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक
मासिक पत्र

आ
त्म
ध
र्म

पौष
२४७२

ज्ञान सम्यक् कब हुआ ?

सम्यक्ज्ञान और दर्शन का कार्य क्या है ?

रात्रिचर्चा ता. २४-२-४४

आत्मा वस्तु है, उसमें अनन्त गुण हैं, उसमें दर्शन का विषय अभेद निर्विकल्प है। ज्ञान विशेष अर्थात् स्व-पर को जाननेवाला है। जब शास्त्र में ज्ञान की मुख्यता को लेकर अधिकार चल रहा हो, तब भेद से कथन आता है। दर्शन अभेद है। अर्थात् दर्शन निज को (दर्शनगुण को) या पर को नहीं जानता। दर्शन का विषय अखण्ड द्रव्य है। एक समय में सर्व गुणों का पिण्ड जो द्रव्य है, वह दर्शन का विषय है। एक समय के दर्शन के विषय में समस्त द्रव्य है।

ज्ञान की पर्याय में दर्शन को और दर्शन के विषय (अभेद द्रव्य) को जानने पर उसमें (ज्ञान की पर्याय में) सारा द्रव्य और सभी संयोग ज्ञात होते हैं। ज्ञान अनन्त गुणों को और निज को जानता है, इसलिये ज्ञान की स्व-पर प्रकाशक सामर्थ्य है। ज्ञान को निश्चित करते हुये उसकी एक समय की पर्याय में सारा द्रव्य और द्रव्य के दर्शनादि अनन्त गुण आ जाते हैं-ज्ञात होते हैं।

ज्ञान के एक समय में पर्याय और पूर्ण द्रव्य आ जाता है। जैसा केवलज्ञान में प्रतिभासित होता है, वैसा ही ज्ञान की एक समय की पर्याय में ज्ञात होता है। लोकालोक को जानने की ज्ञान की शक्ति को भी ज्ञान की एक समय की पर्याय ने निश्चित किया है।

एक ज्ञान की पर्याय में वस्तुरूपेण तो कृतकृत्य हूँ (पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण पर्याय में क्रम का होना गौण है) यों निश्चित करने वाला ज्ञान स्व पर प्रकाशक है।

दर्शन के स्वभाव को निश्चित करनेवाला ज्ञान सच्चा ज्ञान है। जहाँ दर्शन की प्रधानता से वर्णन चल रहा हो, वहाँ वह भी ज्ञान का ही विषय है, कारण कि दर्शन स्वयं निज से नहीं जाना जाता, किन्तु दर्शन को जाननेवाला ज्ञान है।

जो दर्शन का विषय निश्चित करता है, वह ज्ञान सम्यक् है; दर्शन का विषय अखण्ड है; वह निमित्त, पर्याय अथवा भेद को स्वीकार नहीं करता; और यदि ज्ञान में निमित्त को नहीं माने तो ज्ञान की भूल होती है; फिर भी ज्ञान तो दर्शन को जानता है, और 'दर्शन में निमित्त पर्याय अथवा भेद को स्वीकार नहीं किया गया है' यह भी जानता है। इस प्रकार जो समस्त गुणों से वस्तु को निश्चित करे, वह ज्ञान सम्यक् है।

आत्मा का लक्षण चेतना है। चेतना के दो प्रकार है— १-दर्शन और २- ज्ञान (उसे ग्रहण करना, एकाग्र होना, सो चारित्र है)।

दर्शन ने अभेद वस्तु लक्ष में ली है, और ज्ञान ने दर्शन के सारे विषय को निश्चित किया है। ज्ञान ने दर्शन-गुण को निश्चित करते हुए उसमें दर्शन के विषय को भी निश्चित किया है। इस प्रकार ज्ञान ने दर्शन को जाना और दर्शन के विषय में सारा द्रव्य आ जाता है, इसलिये ज्ञान में सभी आ जाता है।

पर्याय अथवा निमित्त, ज्ञान में भी गौण हो जाता है। पर्याय विकसित हुई है या विकसित होनेवाली है, इस भेद को ज्ञान जानता है; दर्शन तो मात्र 'निर्विकल्प अस्ति' है।

जो उपयोगरूप दर्शन गुण है, उसका सामान्य विषय है। उसे (दर्शन को) भी ज्ञान ने निश्चित किया है, और उसके अभेद विषय को भी ज्ञान ने निश्चित किया है। यद्यपि ज्ञान सविकल्प कहलाता है लेकिन उसका मतलब 'राग-युक्त' ऐसा नहीं है। किन्तु स्व-पर को जानने की उसकी शक्ति है। ज्ञान में दर्शन का निश्चय करने पर, दर्शन का अभेद विषय भी निश्चित हो जाता है।

दर्शन के विषय में तो शुद्ध पर्याय होने की बात ही नहीं है, और ज्ञान के विषय में भी शुद्ध पर्याय गौण है। आत्मा में जो अनन्त गुण है, उन सबको जाननेवाला तो ज्ञान ही है, शेष सब तो अस्तिरूप में ही हैं। ज्ञान ने जो जाना उसमें सारी वस्तु एक ही क्षण में आ जाती है। जो वर्तमान अपूर्ण पर्याय है, उसे भी ज्ञान जानता है और ज्ञान की एक समय की पर्याय परिपूर्ण द्रव्य को भी जानती है; इस प्रकार ज्ञान, द्रव्य और पर्याय दोनों को जैसे है, तैसे जानता है।

जिस समय ज्ञान सम्यक्रूप में परिणत हुआ, उस समय भी निमित्त और राग का ज्ञान करने की उसकी शक्ति है। दर्शन का निश्चय करनेवाला ज्ञान ही है। किसी भी गुण को जाननेवाला ज्ञान ही है। दर्शन स्वयं अस्तिरूप गुण है।

सर्वत्र ज्ञान की ही महिमा है। सर्वत्र चैतन्यज्योति चमक रही है। (समयसार में)

जहाँ-जहाँ 'प्रज्ञा' से वर्णन हाता है। वहाँ सर्वत्र ज्ञान को इसी (उपर्युक्त) प्रकार से कहा गया है।

भले ही अपूर्ण ज्ञान में निमित्त हो किन्तु दर्शन के विषय को लक्ष में लेनेवाला ज्ञान है। एक समय में विकल्प रहित जानने का ज्ञान का स्वभाव है। जब वह दर्शन के अभेद विषय को लक्ष में लेता है, तभी ज्ञान की पर्याय खिलती है। यों निश्चय करनेवाली भी ज्ञान की पर्याय ही है।

'ज्ञान निमित्त को जानता है' इसमें पर की ओर झुकाव होता है किन्तु 'ज्ञान ने दर्शन का विषय निश्चित किया, तब ज्ञान सम्यक् हुआ है' यों सामान्यतया जो ज्ञान हुआ, उसका जोर (भार) होना चाहिये।

ज्ञानगुण को विशेष, सविकल्प या साकार कहा जाता है। ज्ञान स्व-पर को जानता है, इसलिए 'विशेष' कहा गया है। सविकल्प कहने में 'ज्ञान में रागविकल्प है' यह नहीं कहा है, किन्तु ज्ञान का स्व-पर प्रकाशपन कहा गया है। और 'साकार' कहने का मतलब जड़ के आकार वाला नहीं है, किन्तु उसका स्व-पर को जाननेवाला स्वभाव बताया है।

प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषपन को लिये हुये अर्थात् द्वैतपन से होती है। चेतना भी द्वैत को लेकर अर्थात् दर्शन और ज्ञानरूप सामान्य-विशेषरूप से है। विशेष में सभी अन्तर्हित है, विशेष दर्शन को निश्चित करता है।

शंका हो सकती है कि यहाँ सामान्य-विशेष लेने का क्या कारण है ? उसका समाधान—

(१) विशेष में सब समाविष्ट (ज्ञात) हो जाता है।

(२) यदि कोई पुण्य-पाप या राग-द्वेष को 'आत्मा का विशेष' कहे तो यह नहीं हो सकता किन्तु जो पर्याय है, सो विशेष है और जो अखण्ड द्रव्य है, सो सामान्य है।

(३) चेतना सामान्य-विशेषस्वरूप है। सामान्य-विशेष (दर्शन-ज्ञान) के बिना चेतना नहीं हो सकती, और चेतना के बिना आत्मा नहीं हो सकता। क्योंकि व्यापक चेतना है और व्याप्य आत्मा है। व्यापक के बिना व्याप्य का होना संभव नहीं है।

ज्ञान तो निज स्वरूप है। उसका स्व-पर प्रकाशक स्वभाव है। उसकी एक समय की एक पर्याय में सारा स्वभाव और अवस्थादि सब आ जाता है।

★ ★ ★ ★

परम सत्य का हकार और उसका फल

परम सत्य सुनने पर भी समझ में क्यों नहीं आता? 'मैं लायक नहीं हूँ, मैं इसे नहीं समझ सकता' ऐसी दृष्टि ही उसे समझने में अयोग्य रखती है। सत् के एक शब्द का भी यदि अंतर से सर्व प्रथम 'हकार' आया तो वह भविष्य में मुक्ति का कारण हो जाता है। एक को सत् के सुनते ही भीतर से बड़े ही वेग के साथ हकार आता है और दूसरा 'मैं लायक नहीं हूँ–यह मेरे लिए नहीं है', इस प्रकार की मान्यता का व्यवधान करके सुनता है, वही व्यवधान इसे समझने नहीं देता। दुनिया विपरीत बातें तो अनादि काल से कर ही रही है, आज इसमें नवीनता नहीं है। अन्तर्वस्तु के भान के बिना बाहर से त्यागी होकर अनन्त बार सूख गया, किन्तु अन्तर सत् का हकार न होने से धर्म को नहीं समझ पाया।

जब ज्ञानी कहते हैं कि 'सभी जीव सिद्ध समान हैं और तू भी सिद्ध समान है; भूल वर्तमान एक समयमात्र की है – इसे तू समझ सकेगा; इसलिए कहते हैं,' तब यह जीव – 'मैं इस लायक नहीं हूँ, मैं इसे नहीं समझ सकूँगा' – इस प्रकार ज्ञानियों के द्वारा कहे गये सत् का इन्कार करके सुनता है; इसलिए इसकी समझ में नहीं आता।

भूल, स्वभाव में नहीं है; केवल एक समयमात्र के लिए पर्याय में है, वह भूल दूसरे समय में नहीं रहती। हाँ, यदि यह स्वयं दूसरे समय में नयी भूल करे तो बात दूसरी है। (पहले समय की भूल तो दूसरे समय में नष्ट हो जाती है।)

शरीर अनन्त परमाणुओं का समूह है और आत्मा चैतन्यमूर्ति है। भला, इसे शरीर के साथ क्या लेना-देना? जैनधर्म का यह त्रिकाल-बाधित कथन है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की पर्याय को उत्पन्न नहीं कर सकता, इसे न मानकर 'मेरे से पर की अवस्था हुई अथवा हो सकती है' ऐसा मानता है, यही अज्ञान है। जहाँ जैन की कथनी को भी नहीं मानता, वहाँ जैनधर्म को कहाँ से समझेगा? यह आत्मा यदि पर का कुछ कर सकता होता, तभी तो पर का कुछ न करने का अथवा पर के त्याग करने का प्रश्न आता।

विकार, पर में नहीं किन्तु अपनी एक समय की मान्यता में है। यदि दूसरे समय में नया विकार करे तो होता है। 'राग का त्याग करूँ' – ऐसी मान्यता भी नास्ति से है। अस्तिस्वरूप शुद्धात्मा के भान के बिना राग की नास्ति कौन करेगा? आत्मा में किसी पर का प्रवेश है ही नहीं तो ही फिर त्याग किसका? परवस्तु के त्याग का कर्तृत्व व्यर्थ ही विपरीत मान रखा है, उसी मान्यता का त्याग करना है।

प्रश्न – यदि सत्य समझ में आ जाए तो बाह्य बर्तन में कोई अन्तर न दिखाई दे अथवा लोगों पर उसके ज्ञान की छाप न पड़े तो ?

उत्तर – एक द्रव्य की छाप दूसरे द्रव्य पर कभी तीन लोक और तीन काल में पड़ती ही नहीं है। प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है। यदि एक की छाप दूसरे पर पड़ती होती तो त्रिलोकीनाथ तीर्थङ्कर भगवान की छाप अभव्य जीव पर क्यों नहीं पड़ती ? जब जीव स्वयं अपने द्वारा ज्ञान करके अपनी पहिचान की छाप अपने ऊपर डालता है, तब निमित्त में मात्र आरोप किया जाता है। बाहर से ज्ञानी पहचाना नहीं जा सकता, क्योंकि यह हो सकता है कि ज्ञानी होने पर भी बाह्य में हजारों स्त्रियाँ हो और अज्ञानी के बाह्य में कुछ भी न हो। ज्ञानी को पहिचानने के लिए यदि तत्त्वदृष्टि हो तो ही वह पहचाना जा सकता है। ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर बाह्य में कोई अन्तर दिखाई दे या न दे, किन्तु अन्तर्दृष्टि में तो अन्तर पड़ ही जाता है।

सत् के सुनते ही एक कहता है कि अभी ही सत् बताइये – ऐसा कहनेवाला सत् का हकार करके सुनता है, वह समझने के योग्य है और दूसरा कहता है कि 'अभी यह नहीं, अभी यह मेरी समझ में नहीं आ सकता' – ऐसा कहनेवाला सत् के नकार से सुनता है, इसलिए वह समझ नहीं सकता।

श्री समयसारजी की पहली गाथा में ऐसा स्थापित किया गया है कि मैं और तू दोनों सिद्ध हैं; इसके सुनते ही सबसे पहली आवाज में यदि हाँ आ गयी तो वह योग्य है; उसकी अल्प काल में मुक्ति हो जाएगी और यदि उसके बीच में कोई नकार आ गया तो वह समझने में अर्गला समान है।

प्रश्न – यदि अच्छा सत्समागम हो तो उसका असर होता है या नहीं ?

उत्तर – बिल्कुल नहीं; किसी का असर पर के ऊपर हो ही नहीं सकता। सत्समागम भी पर है। पर की छाप तीन काल और तीन लोक में अपने ऊपर नहीं पड़ सकती।

आह ! यह परम सत्य बोधि दुर्लभ है। सच्ची समझ के लिए सर्व प्रथम सत् का हकार आना चाहिए।

मुख्य गति दो हैं – एक निगोद और दूसरी सिद्ध। यदि सत् का इनकार कर दिया गया तो कदाचित् एक-दो अन्य भव लेकर भी बाद में निगोद में ही जाता है। सत् के विरोध का फल निगोद ही है और यदि एक बार भी अन्तर से सत् का हकार आ गया तो उसकी मुक्ति निश्चित है। हकार का फल सिद्ध और नकार का फल निगोद है।

यह जो कहा गया है, वह त्रिकाल परम सत्य है। तीन काल और तीन लोक में यदि सत् चाहिए हो तो जगत् को यह मानना ही पड़ेगा। सत् में परिवर्तन नहीं होता, सत् को समझने के लिए तुझे ही बदलना होगा। सिद्ध होने के लिए सिद्धस्वरूप का हकार होना चाहिए। **

अज्ञानी जीव की विपरीत चाल और पुद्गल की सरलता

पुद्गल परमाणुओं का ऐसा स्वभाव है कि यदि कोई जीव विकार नहीं करे तो वह जीव के साथ नहीं लगते हैं, किन्तु यदि कोई जीव उल्टा चलकर परमाणुओं को बताता है, अर्थात् उनकी और लक्ष करता है तो वे आये बिना नहीं रहते। अज्ञानी जीव स्वयमेव राग-द्वेष करता है, फिर भी वह परमाणुओं का व्यर्थ ही दोष निकालता है कि इनने मुझे राग-द्वेष कराया है। किन्तु सच तो यह है कि उसी अज्ञानी जीव ने राग-द्वेष करके पुद्गलों को बुलाया है। कोई राग-द्वेष करके पुद्गलों को बुलाये और वे नहीं आये यह कैसे हो सकता है?

बेचारे पुद्गल तो जीव का कुछ नहीं बिगाडते, किन्तु जीव ही स्वयं रागादि द्वारा अवरुद्ध होता है, तब पुद्गल मात्र उपस्थित रहता है; फिर भी अपने राग में दूसरे का दोष निकालना, यह जीव की विपरीत चाल है।

(गतांक से आगे)

जैनधर्म (३)

लेखक : रामजी माणेकचंद दोशी

जैन शास्त्रों की कथन पद्धति—

जैन शास्त्रों में दो प्रकार का कथन है—एक वास्तविक (परमार्थ यथार्थ, निश्चय) दृष्टि से, दूसरा अवस्था (भंग, भेद, निमित्तादि) दृष्टि से। जहाँ व्यवहारदृष्टि से कथन किया गया हो, वहाँ यदि शब्दानुसार अर्थ किया जायगा तो वह गलत है। जैसे 'इंग्लेण्ड जर्मनी के विरुद्ध लड़ रहा है' यह कथन लोक प्रसिद्ध है; किन्तु यदि इसका शब्दानुसार अर्थ किया जायगा तो यह असत्यार्थ है। इसलिये उसका परमार्थ क्या है, यह जानकर परमार्थ अर्थ किया जाय तो ठीक

होगा, अन्यथा वह गलत है और जब गलत को सही माना जायगा तो अनादिकालीन भ्रम बना ही रहेगा। और ऐसी स्थिति में वह व्यवहार वचनों को ही निश्चय वचन मानकर शास्त्र का अर्थ करेगा, तथा उस भ्रम को पुष्ट करेगा, तो उसे ऐसा अभिमान हुए बिना नहीं रहेगा कि मुझे शास्त्र का अभ्यास है।

जैन शास्त्र का अर्थ किस प्रकार करना चाहिये, इसकी रीति श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक (पृष्ठ २५६) में इस प्रकार कही गई है—

''जिनमार्ग में कहीं तो निश्चयनय (वास्तविक दृष्टि) की मुख्यतासहित व्याख्यान है, उसे तो यों ही जानना चाहिये कि 'सत्यार्थ इसी प्रकार है'; तथा कहीं वयवहारनय की मुख्यता को लेकर कथन है, उसे यों जानना चाहिये कि 'यों है तो नहीं किन्तु निमित्तादिकी अपेक्षा से उपचार किया गया है' और इस प्रकार से जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है। किन्तु दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर 'इस प्रकार भी है और इस प्रकार भी' यों भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनों नयों को ग्रहण करना कहा नहीं है।''

इस पद्धति से यथार्थ अर्थ करना, और यथार्थ स्वरूप क्या है यह जानना, और व्यवहार अर्थात् विकार भेदभंग, निमित्त, अवस्था, बाह्य इत्यादि जो जिस रूप में है, उसे उसी रूप में जानना, और इस प्रकार जानकर, फिर व्यवहार पर से लक्ष छोड़कर निश्चय पर लक्ष देना; ऐसा करने से शुद्ध अवस्था प्रगट होती है, किन्तु भेदभंग, विकार, निमित्त आदि पर लक्ष देने से विकारी अवस्था प्रगट होती है।

निमित्त से लाभ-हानि मानी जाय तो प्रतीति (दृष्टि) का दोष आता है, और जो यों जाने कि निमित्त है ही नहीं तो वह ज्ञान का दोष है। इसलिये दर्शन और ज्ञान दोनों दोष रहित होना चाहिये अर्थात् वह सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानरूप होना चाहिये। ऐसा होने पर ही जीव के त्रिकाल टिकनेवाले ध्रुवस्वरूप पर लक्ष (झुकाव) रहा करता है; जिससे सम्यक्चारित्र प्रगट होता है।

जैन शास्त्रों में जीव, उसकी विकारी दशा, अविकारी दशा, कर्मों के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध, अजीव इत्यादि सब वैज्ञानिक रीति से सिद्ध किया गया है। जैन दर्शन कर्मवादी नहीं किन्तु आत्मवादी दर्शन है।

जैनदर्शन की अनादि अनंतता—

वर्तमान में जितने क्षेत्र तक जाया जा सकता है, उतना ही मनुष्य क्षेत्र नहीं है। इसलिये

तमाम मनुष्य क्षेत्र को लक्ष में रखकर विचार करना चाहिये कि विश्व में जैसे अज्ञानता अनादिकाल से है, उसी तरह सच्चा ज्ञान भी अनादिकाल से है। यदि इस जगत में 'ज्ञान' नहीं हो तो 'अज्ञान' भी नहीं हो सकता। सम्यग्ज्ञान कहो या जैनधर्म, दोनों एक ही है, इसलिये जैनधर्म अनादि काल से है, और अनन्त काल तक रहेगा। यह हो सकता है कि वह (ज्ञान) अमुक मनुष्य क्षेत्र में अमुक काल में नहीं हो, किन्तु सर्व मनुष्य क्षेत्र में और सर्व काल में अज्ञान का बना रहना नहीं हो सकता। यदि यह हो सकता हो तो यह निश्चित किसने किया कि यह 'अज्ञान' है ? सम्यग्ज्ञान ही सत्यज्ञान और मिथ्याज्ञान का निश्चय करता है।

यह हो सकता है कि अमुक मनुष्य क्षेत्र में कितने ही समय तक सम्यग्ज्ञान नहीं हो, किन्तु उस क्षेत्र में और अमुक समय पर एक जीव अपनी उन्नति को साधता हुआ उस मनुष्य क्षेत्र में जन्म ले और वहाँ पर अपनी उन्नति को पूर्ण करके केवलज्ञान प्रगट हो, उस समय उस क्षेत्र में दूसरे पात्र जीवों को उनका उपदेश निमित्तरूप से मिले, और वह पात्र जीवों अपनी योग्यता से उस उपदेश को सुनकर अपना यथार्थ स्वरूप निश्चित करके यथार्थ धर्म (स्वभाव) में प्रवेश करता है। क्रम क्रम से उन्नति में बढ़ते हुए वैसे मनुष्य जिस भाव से संपूर्णज्ञान को प्राप्त करते हैं, उस भाव को वे बताते हैं; इसलिये उन्हें 'तीर्थंकर' अर्थात् 'तैरने का मार्ग बतानेवाला' कहा जाता है।

भरतक्षेत्र में धर्म का प्रवाह कुछ समय के लिये रुक गया था; किन्तु उसके बाद श्री ऋषभदेव आदि चौबीस तीर्थंकर हुये। उनके उपदेश से भरतक्षेत्र में यथार्थ धर्म-प्रवर्तन हो रहा है। तीर्थंकर ज्ञान और पुण्य दोनों में पूर्ण होते हैं। उनके वीतराग होने पर इच्छा के दूर हो जाने से सहजरीत्या (बिना ही इच्छा के) वचनवर्गणा सर्वांग से खिरती है, जिसे दिव्यध्वनि कहा जाता है, अथवा जिसे ओम् भी कहते हैं। उनकी धर्मसभा (समवशरण) में आये हुये देव-देवांगनायें, मनुष्य-मनुष्यनियां, और तिर्यंच-तिर्यंचनियां सब अपनी अपनी भाषा में समझ लिया करते हैं। इस दिव्यध्वनि को उपचार से तीर्थंकर का उपदेश कहा जाता है।

जैनधर्म के लिये सौराष्ट्र का भाग—

सौराष्ट्र प्रदेशान्तर्गत गिरनार पर्वत पर बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ भगवान के दीक्षा, केवल और मोक्ष कल्याणक हुये हैं। उन्हीं के समय में उन्हीं के कुटुम्बी श्री कृष्णवासुदेव और श्री बलभद्र श्लाका पुरुष हुये थे। गिरनार पर्वत जैनों का सुविख्यात तीर्थ है। इस गिरनार पर्वत की

गुफा में श्री धरसेनाचार्य विराजते थे। उनने अपना दिव्यज्ञान श्री भूतबली और श्री पुष्पदन्त मुनिराजों को दिया था। और उन मुनियों ने भविष्य में होनेवाली बुद्धि की मन्दता को जानकर 'षट्खण्डागम' की रचना की थी। वे ग्रंथ अब हिन्दी टीका सहित मुद्रित हो रहे हैं। यह षट्खण्डागम वर्तमान जैन साहित्य में सबसे अधिक प्राचीन हैं।

जैनों में 'तत्त्वार्थसूत्र' सर्वमान्य ग्रन्थ है। उसकी रचना भी सौराष्ट्र में श्री उमास्वामी आचार्य ने की थी। भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव रचित परमागम श्री समयसार का गुजराती अनुवाद और प्रकाशन भी अभी (सन १९४० में) इसी प्रदेश में हुआ है।

'शत्रुंजय' भी सुप्रसिद्ध जैन तीर्थक्षेत्र है। वहाँ पर पाण्डवादि अनेक महापुरुषों को केवलज्ञान की और मोक्ष की प्राप्ति हुई है। यह क्षेत्र भी सौराष्ट्र में है।

अभी निकट भूतकाल में ही ववाणिया बन्दर में श्रीमद् राजचंद्र हो गये हैं। वे जैनधर्म के एक महान तत्त्वज्ञानी के रूप में प्रसिद्ध हुये हैं। अभी कुछ समय पूर्व ही उनका स्मारक ववाणिया में बना है। उनने गुजरात और काठियावाड में जैनधर्म की अध्यात्मविद्या के बीज बोकर उसका अच्छा प्रचार किया था। जैनधर्म के यथार्थस्वरूप को समझानेवाले अनेक पत्र और नोंध जो उनने अपने शिष्यों को लिखे थे-प्रगट हुये हैं। मुमुक्षु उनका अच्छा लाभ ले रहे हैं।

—अन्त में—

मैं युवक हूँ, वृद्ध हूँ, शूरवीर हूँ, पण्डित हूँ, सर्वश्रेष्ठ हूँ, दिगम्बर हूँ, बौद्धमत का आचार्य हूँ, अथवा श्वेताम्बर हूँ, इत्यादि शरीर के भेदों को मूर्ख आदमी अपना मानता है, यह भेद जीव के नहीं हैं। [परमात्मप्रकाश, गाथा ८२]

जीव बौद्ध का आचार्य नहीं, दिगम्बर नहीं, श्वेताम्बर नहीं, किसी वेष का धारी नहीं अर्थात् एकदण्डी, त्रिदण्डी, हंस, परमहंस, संन्यासी, जटाधारी, मुंडी, रुद्राक्षमाला, तिलक, कुलक, घोष, इत्यादि किसी भी वेष का धारी नहीं है। वह एक ज्ञानस्वरूप है। (परमात्मप्रकाश, गाथा ८८)

जीव ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र नहीं है। पुरुष, स्त्री या नपुंसक नहीं है; वह तो ज्ञानस्वरूप होने से समस्त वस्तुओं को जाननेवाला है।

इस प्रकार जैनधर्म का अर्थ, जैनतत्त्व का संक्षेप, जैनधर्म के शास्त्रों की कथन पद्धति, जैनदर्शन की अनादि-अनन्तता और जैनधर्म के लिये सौराष्ट्र का भाग, इन पाँच विभागों द्वारा यह कथन समाप्त किया जाता है। ★★

बंधन और पराधीनता

[परमपूज्य सद्गुरुदेश्री कानजीस्वामी का समयसार पर प्रवचन। दिनाँक 26-12-43]

— बंधन क्या है? —

जिस भाव से आत्मा की स्वाधीनता नष्ट हो जाय और पराधीनता आ जाय, उस भाव को बंधन कहते हैं। आत्मा में जो पराधीन भाव है, वही आत्मा की हानि का कारण है। आत्मा अनादि-अनन्त ज्ञानमूर्ति है। उसे जाने बिना किसी भी प्रकार के पुण्य-पाप के भावों का होना आत्मा के लिए बंधनकर्ता है—आत्मगुणों के लिये हानिकार है।

जीव ने अनन्तकाल से संसार की बातें सुनी हैं, किन्तु उसने यह आजतक नहीं जाना कि आत्मा का क्या स्वरूप है और आत्मा का बंधन क्या है। अज्ञानी को तो संसार का बंधन-दुःख ही नहीं मालूम होता।

— आत्मा क्या है? —

शरीर के परमाणु आदि वस्तु है, उसी प्रकार आत्मा भी एक वस्तु है। शरीर मूल वस्तु नहीं है किन्तु वह बहुत से परमाणुओं का संग्रह है - सूक्ष्म मिट्टी है। यद्यपि परमाणु की दशा बदल जाती है किन्तु वह परमाणुरूप से तो कायम रहता ही है। शरीर, आत्मा नहीं है, किन्तु शरीर में रहनेवाला शरीर से भिन्न एक आत्मा है।

आत्मा वस्तु है, जगत की अनादि-अनंत चीज है, उसमें अनंत गुण है, जानना-मानना आदि आत्मा के गुण है। ऐसे आत्मा के स्वरूप को न जानकर ऐसा भाव करना कि 'मैं शरीर हूँ, पुण्य-पाप मेरे है, पुण्य से मुझे धर्म होता है', सो बंधनकर्ता है। वह आत्मा के गुणों की शक्ति का घात करता है।

आत्मा एक वस्तु है, शरीरादि उससे पर (भिन्न) है। जब यह जीव माता के पेट में आया, तब उस शरीर को साथ में लेकर नहीं आया था, किन्तु वह पिण्ड तो माता के पेट में जड़ रजकणों से बना था।

— बंध का कारण —

आत्मा ज्ञानस्वभावी है; कोई भी वस्तु निर्गुण नहीं होती, यदि वस्तु में गुण नहीं हो तो वह कैसे पहचानी जाय? आत्मा को किन गुणों को लेकर जाना-पहचाना जाय? ज्ञानगुण से ही

आत्मा की पहिचान होती है। आत्मा में ज्ञानादि अनंत गुण है। 'मैं जाननेवाला शुद्ध ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ' अपने इस स्वरूप को भूलकर यह मान लेना कि 'जो पुण्य-पाप है, सो मैं हूँ, जो शरीरादि है, वह मैं हूँ' यही अज्ञान है - बंध का कारण है।

आत्मा क्या वस्तु है ? वह जाननेवाला अखण्डज्योति-ज्ञानस्वभावी है। जानना ही उसका स्वरूप है। वह अपने ज्ञायक (जाननेवाले) स्वभाव की ओर उन्मुख न होकर यदि यह मान बैठे कि 'मेरे आत्मस्वभाव को या गुण को मुझे कोई अन्य दे देगा, अथवा कोई दूसरा सहायता कर देता तो वह प्रगट हो जायगा' बस यही मान्यता बंधन और यही पराधीनता है।

जो यह मानता है कि किसी के श्राप या आशीर्वाद से मेरा बुरा-भला हो सकता है, वह पर से अपना भला-बुरा मानने के कारण आत्मा के स्वतंत्र स्वभाव की हिंसा कर रहा है, उसे आत्मा की स्वतंत्रता पर विश्वास नहीं है। यदि उसे विश्वास हो तो उसकी यह धारणा होनी चाहिये कि 'मैं अनादि-अनंत स्वतंत्र वस्तु हूँ, मुझमें पराधीनता नहीं है।'

— बंधन क्यों होता है ? —

प्रश्न - तो फिर आत्मा में बंधन क्यों होता है ?

उत्तर - क्योंकि उसे अपने वस्तुस्वभाव की खबर नहीं है, इसलिये वह पर से लाभ मानता है। अर्थात् वह यह मानता है कि मुझमें तो शक्ति है ही नहीं। यही पराधीन भाव है और यही आत्मा के धर्मस्वभाव को अधर्मदशारूप यानी बंधनरूप बना डालता है।

प्रश्न - बंधन किसे कहा ताए ?

उत्तर - जो भाव, आत्मा के गुणों को रोकता है, वह बंधन है। जिस भाव से आत्मा के गुणों की शक्ति रुकती है, वह बंधनभाव है। आत्मा एक पदार्थ है। कोई वस्तु बिना गुण के नहीं होती। आत्मा का स्वभाव—आत्मा के गुण आत्मा में ही है; किसी पर के ऊपर आत्मगुण अवलम्बित नहीं है। यदि किसी पर से आत्मा के गुण आवें तो इसका सीधा अर्थ यही हुआ कि आत्मा में गुण नहीं है। और जब आत्मा में गुण नहीं होंगे तो किसी भी कारण से वे प्रगट नहीं हो सकेंगे और यदि वे हैं तो फिर उन्हें पर की सहायता की आवश्यकता ही क्यों रहेगी ?

जीव के लिये यह संसार नया नहीं है। अनादि से यह जीव पराधीन मान्यता के कारण परिभ्रमण कर रहा है। यह कभी शुद्ध नहीं हुआ। यदि एकबार भी आत्मा शुद्ध हो जाय तो फिर कभी भी उसे संसार (अशुद्धता) न हो। (जैसे मक्खन का घी बन जाने पर फिर वह

घी मक्खन नहीं बन सकता।) किन्तु मान्यता की भूल अनादिकाल से चली आ रही है। पुण्य-पाप दोनों ही विभाव से उत्पन्न हुये हैं। वे स्वभाव नहीं है। यदि वे स्वभाव हो तो उनका कभी भी नाश नहीं हो। जो परवस्तु है, उसे आत्मस्वभाव की मान लेना, यही अनन्त जन्म-मरण का कारण है।

— आत्मा और परमात्मा —

आत्मा स्वयं परमात्मा है। आत्मा और परमात्मा में सिर्फ इतना ही अन्तर है कि परमात्मा ने अपना अविकारी स्वरूप प्रगट कर लिया है और इस आत्मा ने विकार को अपना मान रखा है। जब कोई आत्मस्वरूप को विकार रहित मानकर उसे प्रगट करता है, तब वह आत्मा स्वयं ही परमात्मा कहलाने लगता है। किन्तु यदि कोई अपने विकार रहित स्वरूप को नहीं माने और पराधीन भाव को अपना मानकर यों कहें कि 'मुझे स्वतंत्र होना है' तो वह स्वतंत्र वस्तु को जाने बिना स्वतंत्र कहाँ से हो जायगा?

यदि कोई आत्म को जैसा है, वैसा नहीं माने तो भी वह कहीं भी किसी न किसी रूप में वस्तु को तो मानेगा ही? उसे स्वभाव की खबर नहीं है, इसलिये वह यह मानेगा कि जो पुण्य-पाप है वही मैं हूँ! किन्तु वह जब तक पुण्य-पाप को अपना स्वरूप मानता है, उसे अपना सहायक मानता है, तब तक उसको बंधन है और पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है, पुण्य भी मेरा सहायक नहीं है, इस प्रकार की पराश्रय रहित श्रद्धा ही बंधन से छूटने का उपाय है।

— अविकार और विकार —

जहाँ पर गुण होता है, वहीं पर उसकी विपरीत अवस्था [विकार] हो सकती है। लकड़ी में क्रोध नहीं है क्योंकि उसमें क्षमा गुण नहीं है। जहाँ क्षमा गुण होता है, वहाँ उसके विपरीत होने से क्रोध भी हो सकता है। क्योंकि जल में शीतल गुण है, इसलिये वह अग्नि के निमित्त से गरम भी होता है, फिर भी उष्णता उसका वास्तविक स्वभाव नहीं है, किन्तु शीतल गुण का विकार है अर्थात गुण की विपरीतता है। आत्मा में जो क्रोधादि विकारी भाव है, वे यह सूचित करते हैं कि उनके पीछे क्षमा इत्यादि गुण त्रिकाल पड़े हुये हैं। विकारीभाव अविकारी गुण की विपरीत स्थिति है, जितना विकार दिखाई देता है, वह सब गुण की विपरीत दशा है।

शरीरादि पर है, यह तो सभी कहते हैं, किन्तु वास्तव में उस प्रकार मानते नहीं है। आत्मा में क्रोधादि विकार मालूम होते हैं, यदि आत्मा का अविकारी स्वभाव न हो तो विकार हो कहाँ से? क्षमा गुण के बिना क्रोध हो नहीं सकता। जो क्रोधादि विकार मालूम होते हैं,

वह आत्मस्वभाव का गुण नहीं है किन्तु क्षमा गुण की विपरीतता है। गुण की विपरीतता अथवा पर से लाभ मानना ही बंधन है। पुण्य-पाप के संपूर्ण विकारीभाव आत्मा के अविकारी गुण की विपरीतता से होते हैं। उन विपरीत भावों से (पुण्य-पाप से) आत्मा के लिये लाभ मानना, यही बंधन है।

— पराधीनता की व्याख्या —

बंधन का अर्थ है पराधीनता - दुःख। सर्व साधारण लोग भी कहते हैं कि - "पराधीन सपने सुख नाहीं" इसका अर्थ लोग यों कहते हैं कि नौकरी इत्यादि पराधीनता है, किन्तु पराधीनता की यह व्याख्या ठीक नहीं है। यह तो स्थूल अर्थ है। आत्मा त्रिकाल शुद्ध, निर्दोष, वीतरागस्वरूप है, यों न मानकर उसे शरीरादि अथवा रागद्वेषयुक्त मानना, यही वास्तविक पराधीनता है और उसमें स्वप्न में भी सुख नहीं है। संसार के लाभ में (धन, स्त्री, आदि तथा पुण्य में) ही लीन हो जाते हैं किन्तु उससे अन्तिम योग लाभ में तो मात्र शून्य और पाप का ढेर ही है। पुण्य-पाप के बंधन भाव और उससे रहित स्वाधीन स्वभाव का विभाग करना जहाँ तक नहीं आता, वहाँ तक सुख की गंध स्वप्न में नहीं आ सकती।

अनादि से पुण्य-पाप के विकारीभाव को तथा शरीर, मन और वाणी को अपना मानकर बंधन भाव उपस्थित किया गया है। स्वतंत्र तत्त्व में पराश्रय को लेकर सुख-बुद्धि कर लेना, यही स्वाधीनता की हत्या है। सम्यग्ज्ञान के बिना न तो सीधाभाव समझा जा सकता है और न बंधन टाला जा सकता है। आत्मा स्वयं ज्ञानानन्द शुद्ध स्वरूपी है, उसे भूलकर जितना पर का आधार मानता है, उतना ही बंधन है - दुःख है।

पात्रता और ब्रह्मचर्य

तत्त्व समझने के लिये प्रारम्भ में ब्रह्मचर्य का रंग होना चाहिए। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि—

"पात्र बिना वस्तु न रहे, पात्रे आत्मिकज्ञान।
पात्र थवा सेवो सदा, ब्रह्मचर्य मतिज्ञान्॥"

जब तक आत्मा में पात्रता नहीं आती, तब तक बिना पात्रता के वस्तु कैसे टिक सकती है? इसलिये सबसे पहले असंयोगी तत्त्व की रुचि-श्रद्धा करने के लिए पात्रता (योग्यता) आवश्यक है। पुण्य-पाप से आत्मा का कल्याण नहीं होता—ऐसी प्रतीति-श्रद्धा हुए बिना त्रिकाल

में भी मुक्ति नहीं हो सकती। ऊपर कहा भी है कि—''पात्र थवा सेवो सदा ब्रह्मचर्य मतिमान्'' इसमें सिद्धांत क्या है? यही कि आत्मा के बिना पर की ओर विषय (संयोगीभाव) में जो तीव्र आसक्ति के द्वारा सुख मान रहा है, उसे पृथक् तत्त्व-असंयोगी स्वभाव ख्याल में नहीं आ सकेगा।

परसंयोग के निमित्त से आत्मा में जो भाव होता है, उस संयोगी भाव को अपना स्वरूप मानना, सो 'अब्रह्म' है। इसमें दो बातें आई। (१) शरीरादि सब पर है और (२) पुण्य-पाप के भाव भी पर हैं। क्योंकि जब तक पर के ऊपर लक्ष्य करके उसमें अपनापन मानता है, तब तक पुण्य-पाप के भाव होते हैं, किन्तु वह स्वभाव में नहीं है, इसलिये उन्हें दूर किया जा सकता है। यदि वे पुण्य-पाप के भाव स्वभाव में होते तो कभी भी उन्हें दूर करके मुक्ति नहीं किया जा सकता।

जिसके पर संयोग की (विषय की) वृत्ति तीव्ररूप में मौजूद है, अर्थात् जो पर का प्रीति के साथ संवेदन करता है, उसे आत्मतत्त्व का असंयोगी स्वभाव समझ में नहीं आयगा।

आत्मा पर से बिल्कुल भिन्न है, पर्याय में कर्म के (परवस्तु के) निमित्त से आत्मा स्वयं विपरीत होकर जो भाव करता है, उससे रहित असंयोगी की श्रद्धा के लिए पहले ब्रह्मचर्य का रंग होना चाहिए; इसलिये जिसके अब्रह्मचर्य है अर्थात् जिसने परवस्तु में सुखबुद्धि मान रखी है, उसके पर से भिन्न शुद्ध आत्मा की श्रद्धा होने की पात्रता नहीं है।

— ज्ञानी और अज्ञानी —

यहाँ पर पात्र होने की लिए ''ब्रह्मचर्य का रंग'' होने की बात कही गई है। इसका मतलब यह है कि सभी ज्ञानियों को ज्ञान होते ही पर का समस्त संग छूट ही जाय, ऐसा नहीं; किन्तु परपदार्थ के प्रति जो तीव्र आसक्ति है, वह अंतर में नहीं रहती। मेरा सुख आत्मा के सिवाय किसी परपदार्थ में-स्वर्ग में अथवा राजपद में कहीं भी नहीं है — ऐसी प्रतीति होने पर राग-द्वेष विषयक अल्प अस्थिरता हो सकती है, किन्तु संयोग में सुखबुद्धि नहीं होती, जब कि अज्ञानी को तो भीतर ही भीतर संयोग में सुख की तीव्र आसक्ति बनी रहती है, उसे पुण्य की मिठास का अनुभव होता रहता है। उसमें ऐसी श्रद्धा की पात्रता नहीं है कि आत्मा शुद्ध चैतन्य पर से अलग ही है।

— सुख —

आत्मा के सिवाय परपदार्थ का संयोगी सुख, सच्चा सुख नहीं है; वह तो केवल अपनी

एक खोटी कल्पना है। जो सुख भगवान आत्मा में त्रिकाल परिपूर्ण भरा है, उसे न माने और पर में (जहाँ कभी भी सुख नहीं हो सकता) सुख माने, उसने अपने को नाचीज मान रखा है, उसे आत्मा के प्रति श्रद्धा नहीं है; इसलिये उसने पर में सुख मान लिया है। किन्तु असंयोगी आत्मा की श्रद्धा के बिना सच्चा सुख हो ही नहीं सकता।

— समजण और त्याग —

''आत्मा पर से भिन्न, निर्दोष, निर्लेप तत्त्व है तथा अपने गुणों से जीनेवाला स्वतंत्र है। पुण्य-पाप से आत्मा को कोई लाभ नहीं'' ऐसी यथार्थ मान्यता के बिना त्यागी होकर यदि मर जाय तो भी कोई लाभ नहीं होता। और समझ लेने के बाद तत्काल ही त्यागी हो जाय, यह सबके लिए संभव नहीं है। आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझ लेने के बाद भी पूर्व पुण्य के योग से ज्ञानी भी चक्रवर्ती होते है। भरत, श्रेणीक और भगवान ऋषभदेव इत्यादि राज्य के धनी राजा थे और उन्हें स्वरूप का भान भी था। संसार में होने पर भी और राग-द्वेष (पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण) होने पर भी 'यह मेरा स्वरूप नहीं, मैं चिदानंद निर्विकारी पूर्ण शुद्धस्वरूप हूँ' इस प्रकार शुद्धदृष्टि का उन्हें भान था। यदि कोई बिना भान के हजारों रानियों और राजपाट को छोड़कर त्यागी (बाह्य में) हो जाय तो भी धर्म नहीं हो सकता। पुण्य-पाप रहित स्वरूप की स्वतंत्र पहिचान के बिना वह सब बिना इकाई के शून्य के समान हैं। ज्ञानी जीव संसार में राजपाट, स्त्री आदि के संयोग में रहने पर भी, उन सबको रोग समान ही मानता है। वह अपने स्वरूप की पैनी दृष्टि से यह जानता है कि मेरे स्वभाव का सुख मुझमें ही है, शेष सब (पर संयोगीभाव) स्वतंत्रता का खून करनेवाले हैं।

— ज्ञानी और अज्ञानी की दृष्टि में बड़ा अंतर —

इससे निश्चित हुआ कि 'जो समझते हैं, वे सब छोड़कर चले ही जाते हैं अथवा जो छोड़ते हैं, वे सब समझते ही हैं' ऐसा कोई सिद्धांत नहीं है। इसका मतलब यह हुआ कि बाहर से ही नहीं देखना है किन्तु भीतर में कितनी आसक्ति है, इसका माप लेना है। ज्ञानी और अज्ञानी दोनों की बाह्य क्रियाएँ एकसी दिखाई देती हैं किन्तु भीतर के आसक्ति भाव में बहुत बड़ा अंतर है। उदाहरण के रूप में - बिल्ली अपने बच्चों को मुँह से पकड़ती है और चूहे को भी मुँह से ही पकड़ती है; फिर भी उसे अपने बच्चे पर प्रेम होता है और वह चूहे को खा डालने के लिए पकड़ती है। इस प्रकार बाह्य में एक-सा होने पर भी भीतर से ''पकड़ में अंतर है।''

मेरा स्वरूप स्वतंत्र है, कोई भी परवस्तु मुझे लाभ या नुकसान करने के लिए तीन लोक

और तीन काल में समर्थ नहीं है। ऐसी तत्त्वबुद्धि जिन्हें प्रगट हुई है, उन ज्ञानियों में और जो परवस्तु से लाभ और हानि मानते हैं, ऐसे अज्ञानियों में कितना बड़ा अंतर है, यह मुमुक्षुओं को ज्ञात हुये बिना नहीं रहता। सगी माता और धाई माँ दोनों पुत्र का पालन एक समान करती हैं, फिर भी अंतरग में अंतर है। एक को उस पर सच्चा प्रेम है, जब कि दूसरी पैसे के लिए प्रेम करती है और समझती है कि ''यह मेरा पुत्र नहीं है, यह मुझे कमाकर नहीं खिलायेगा''। उसी प्रकार ज्ञानी अर्थात् धर्मबुद्धिवाले को अंतरंगदृष्टि से परवस्तु के प्रति इस प्रकार नकार भाव होता है कि ''यह शरीरादि मेरे घर की वस्तु नहीं है और पुण्य-पाप के कोई भाव मेरे स्वभाव से नहीं आते, इसलिये वे मेरे नहीं है। किन्तु अज्ञानी जीव पर संयोग में लाभ और हानि मानता है अर्थात् वह पर को अपना मान रहा है; इस प्रकार दोनों की दृष्टि में बहुत बड़ा अंतर है, कहा भी है कि ''बाल: पश्यति लिंग''—देखने की दृष्टि में अंतर है।

(1) बिल्कुल अज्ञानी मात्र वेश को ही देखता है।

(2) दूसरे नंबर का अज्ञानी बाह्य प्रवृत्ति (क्रिया) को देखता है और -

(3) ज्ञानी उसके अंतरंग भाव को देखता है कि उसके भीतर कैसी बुद्धि है और स्व-पर का विवेक कैसा है? वास्तव में अंतरंग से ही ज्ञानी का माप होता है। ज्ञान होने के बाद पर की मालिकी का भाव ही उसकी दृष्टि से उठ जाता है। आत्मा स्वाधीन वस्तु है, उसमें दृष्टि की विपरीतता से बंधन होता है।

— मिथ्यात्व का लक्षण —

प्रश्न - विपरीत मान्यता का लक्षण क्या है?

उत्तर - एक आत्मा के सिवा कोई भी परवस्तु मुझे लाभ या हानि करती है, इस प्रकार की मान्यता ही पर को निज मानने के कारण विपरीत मान्यता है। वह इसमें दो तत्त्वों को एक मानता है। एक तत्त्व को दूसरी वस्तु से लाभ और हानि मानता है। उसे असंयोगी तत्त्व की खबर ही नहीं है। जब तक उसे संयोग में मिठास मालूम होती है, तब तक उसके मन में असंयोगी आत्मा के स्वतंत्र सुख स्वभाव की बात जमती ही नहीं है, इसलिये श्रीमद् ने कहा है कि ''पात्र थवा सेवो सदा, ब्रह्मचर्य मतिमान्''

— ब्रह्मचर्य और आत्मभान —

बिना समझ के मात्र शील के प्रति अपना ध्यान रखना शुभभाव है किन्तु इस प्रकार बिना समझ के ब्रह्मचर्य तो जीव ने अनंत बार पालन किया है। इसलिये यहाँ पर मात्र 'ब्रह्मचर्य' ही

नहीं कहा है, किन्तु साथ ही 'मतिमान्' शब्द का प्रयोग किया है। बिना मति के - पर से भिन्न आत्मा की श्रद्धा के बिना ब्रह्मचर्य पालन करके नवमें ग्रैवेयक तक हो आया किन्तु साथ ही 'परवस्तु सहायक है' - ऐसी विपरीत मान्यता के कारण चौरासी के जन्म-मरण से एक भी दूर नहीं हुआ; इसलिये यहाँ पर कहा है कि - पर से भिन्न स्वरूप के भान के साथ जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है, वह मतिमान् है। और फिर उन्हीं ने कहा है कि—

'जे नव वाड विशुद्धथी धरे शियल सुखदाइ।
भव तेनो लव पछी रहे तत्त्व वचन ये भाई॥'

इसमें भी विशुद्ध शब्द का प्रयोग किया है। विशुद्ध अर्थात् चैतन्य आत्मा; पर से भिन्न ज्ञाता-दृष्टा; उसके भान के साथ जो नव कोटि से [मन वचन काय से विषय सेवन नहीं करता, मन वचन काय से विषय सेवन नहीं कराता और मन वचन काय से, कोई विषय सेवन करता हो तो उसके प्रति अनुमोदना नहीं करता, इन तीनों प्रकारों से] ब्रह्मचर्य पालन करता है वह, 'नव वाड विशुद्ध थी' है। जो ऐसे शील का सेवन करता है, उसके भव नहीं रह सकता है अथवा 'लव अर्थात् एकाध भव रहता है। सबसे पहले इस पात्रता की आवश्यकता है। आत्मा तो त्रिकाल आनंदमूर्ति ही है, उसमें पुण्य-पाप तो क्षणिक विकार हैं, उसे स्वभाव मान लेना, यही तत्त्व को विपरीत मानना है और यही बंध का कारण है।'

परपदार्थ के साथ आत्मा के बंधन भाव का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। यदि आत्मा अपने ज्ञानस्वभाव में रहे तो बंधन भाव होता ही नहीं है और पराश्रय बुद्धि में बंधन हुए बिना रह ही नहीं सकता। बंधन भाव पराश्रय से होता है, वह आत्मा को लाभ नहीं कर सकता। शुभभाव से यदि स्वर्ग या राज्यादिक का संयोग हो जाय तो वह आत्मा की चीज तो नहीं है, आत्मा की सुख शांति तो अंदर ही मौजूद है। उसकी रुचि बिना, सत्य प्रतीति के बिना अथवा स्व लक्ष्य के बिना वह प्रगट नहीं हो सकती, बंधन नहीं टूट सकता। जितनी हद तक एक आत्मा अपने लिये पर का आधार मानता है, उतनी ही हद तक बंधन है।

पहले तो आत्म में अनंतगुण स्वतंत्र रूप में मौजूद हैं। जो उन्हें नहीं समझ सकते, ऐसे कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र को जब तक माना जायगा, तब तक मिथ्या श्रद्धा दूर नहीं हो सकती और जब तक सच्चे देव और सच्चे गुरु का निमित्त नहीं मिलता, तब तक सच्ची श्रद्धा नहीं हो सकती। कोई देवी देवता मुझे संसार का (धन पुत्रादि का) कोई लाभ प्राप्त करवा देंगे, जिसकी ऐस धारणा बनी हुई है, उसे तो पुण्य के प्रति भी श्रद्धा नहीं है, अर्थात् उसकी दृष्टि बिल्कुल

विपरीत है। जहाँ देखो वहाँ उसका पैसे पर लक्ष है किन्तु पैसा और पुण्य का यहाँ क्या मूल्य है ? पुण्य के एक कणमात्र की इच्छा करनेवाला मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दृष्टि को पुण्य की रुचि नहीं होती। जैसे एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकती, उसी प्रकार स्वरूप की श्रद्धा और पुण्य की रुचि दोनों एक साथ नहीं रह सकती। फिर भी ज्ञानी जब तक वीतराग नहीं हो जाता, तब तक उसके शुभराग तो होता है किन्तु उसके अंतर में रुचि नहीं होती। जिसके यह विवेक या श्रद्धा नहीं है कि जब पुण्यभाव को दूर करूँगा, तभी वीतरागता प्राप्त होगी, उसके किंचित्मात्र भी धर्म प्रगट हुआ नहीं कहा जा सकता।

सच्ची श्रद्धा में सत्देव सद्गुरु और सत्शास्त्र को निमित्त कहा गया है, उनका स्वरूप निम्न प्रकार है—

सत्देव—जिनके आत्मा की त्रिकाल परमात्म पूर्णदशा प्रगट है, वे सत्देव हैं।

सत्गुरु—जिनके आत्मभान के साथ निर्ग्रंथ दशा वर्तमान है, वे सत्गुरु हैं।

सत्शास्त्र—प्रत्येक आत्मा की स्वाधीनता और अनंत गुणों की पूर्णता का जिस शास्त्र में प्ररूपण हो, वह सत्शास्त्र है।

धर्म—आत्मा का स्वरूप जैसा है, उसी प्रकार यथार्थ माने, मेरी आत्मा में ही मेरा लाभ है, सत्देव, गुरु, शास्त्र भी परवस्तु है, इस प्रकार की प्रतीति का होना सो धर्म है।

सच्ची श्रद्धा होने के बाद क्या करना चाहिए; ऐसा संदेह नहीं रहता। मैं पर से भिन्न ज्ञाता, सहजात्म स्वरूप पुण्य-पाप रहित हूँ—ऐसा इस प्रकार के भान सहित आत्मा प्रतीति का होना, सो सम्यग्दर्शन है। उसके प्रगट होने पर ही क्रमशः वीतरागता होती है।

अंत में आचार्यदेव कहते हैं कि एक तत्त्व को दूसरा तत्त्व कुछ हानि या लाभ कर सकता है, यों मान लेना ही पराधीनता है और स्वतंत्र स्वाधीन तत्त्व की श्रद्धा ही सुख का उपाय है। ❋

-आत्मधर्म के ग्राहकों को उपहार ग्रंथ-

* मुक्ति का मार्ग *

यह प्रगट करते हुए हर्ष होता है कि आत्मधर्म के ग्राहकों को फाल्गुन मास में 'मुक्ति का मार्ग' नामक उपहार ग्रंथ भेंट दिया जायगा।

मुक्ति का मार्ग सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी द्वारा 'सत्ता स्वरूप' ग्रंथ पर किये गये कुछ प्रवचनों का सार है। 'मुक्ति का मार्ग' पाकर आप आत्मविभोर हो जायेंगे। आपके अन्य साथी जो इस ग्रंथ को पाना चाहें, उन्हें शीघ्र ही 'आत्मधर्म' का ग्राहक बनाकर आत्मधर्म कार्यालय-सोनगढ़ (काठियावाड़) के पते पर सूचित करने की कृपा करे।.....

धर्म संवाद : १

लेखक : रामजीभाई माणेकचंद दोशी

कर्मचंद—मेरा छोटा भाई कहता है कि यदि हम चौबीसों घंटे न खायें, न पियें तो यह धर्म कहलायेगा?

धर्मचंद—मेरे बड़े भाई कहते हैं कि ऐसा नहीं हो सकता; जैसा कि तुमने कहा है यदि वैसा हो और उसमें शुभभाव रखा जाय तो उस शुभभाव से पुण्यबंध होगा, धर्म नहीं होगा। क्योंकि धर्म तो अबंध है।

कर्मचंद—किन्तु छोटा भाई कहता है कि जैसा मैं कह चुका हूँ यदि वैसा किया जाय तो वह तप होगा और तप से निर्जरा होती है—ऐसा शास्त्रों में कहा है। इसलिये उक्त कथन में तुम्हारे बड़े भाई की भूल तो नहीं हो रही है न?

धर्मचंद—मैंने अपने बड़े भाई के साथ इस संबंध में खूब चर्चा की है। वे कहते हैं कि यह सच है कि तप से निर्जरा होती है; किन्तु यह देखना चाहिये कि वह सम्यक् (यथार्थ) है या असम्यक्। तब मैंने विचार करके जवाब दिया कि वह सम्यक् तप ही होना चाहिये।

कर्मचंद—मेरा छोटा भाई कहता है कि भाई देखो, हमें अन्न-जल सब प्राप्त है और हम स्वयं ही अन्न-जल को भोक्तव्य शक्ति होने पर भी अपने आप छोड़ रहे हैं, इसलिये वह धर्म

होगा और सम्यक् तप कहलायेगा। हाँ! जिसे खाने को नहीं मिलता और इसलिये जो परवश होकर अन्न-जल नहीं ग्रहण करता, उसके धर्म नहीं होगा।

धर्मचंद—मेरे बड़े भाई तो कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि के ही तप होता है, दूसरे के नहीं। जैसा कि तुम्हारे छोटे भाई कहते हैं, उसे भगवान ने सम्यक् तप नहीं कहा। उसकी व्याख्या तो ''इच्छा निरोधस्तप'' है और वह परिभाषा तुम्हारे बताये हुये तप के साथ संगत नहीं है, इसलिये वह तप नहीं कहा जा सकता।

कर्मचंद—मेरा छोटा भाई कहता है कि देखो! इस तप में भी रोटी खाने और पानी पीने की इच्छा रोकी जाती है, इसलिये वह शास्त्रोक्त व्याख्या के अनुसार भी तो तप हुआ न?

धर्मचंद—मेरे बड़े भाई कहता है कि देखो उसमें 'रोटी न खाने की' इच्छा की गई इसलिये इच्छा तो आ ही गई, इसलिये वह तप नहीं कहलायेगा। किन्तु यदि उसमें शुभभाव होगा तो पुण्य कहलायेगा। मुझे यही बात ठीक मालूम होती है।

कर्मचंद—मेरा छोटा भाई कहता है कि यह तो केवली के लिये शक्य है, हम जैसे अपूर्ण प्राणियों के लिये तो शक्य नहीं हो सकता।

धर्मचंद—मेरे बड़े भाई कहते हैं कि केवली के तप होता ही नहीं है। तप तो साधक-अपूर्णदशा में होता है।

कर्मचंद—तो फिर अपूर्ण दशा में शुभ और अशुभ दोनों इच्छायें कैसे रोकी जा सकती हैं? यह मेरी समझ में नहीं आया।

धर्मचंद—मैं अपने बड़े भाई से पूछकर और उसे ठीक समझकर बाद में आपको जवाब दूँगा। आज हमने सुंदर चर्चा की है। अब जब आप कहेंगे, तब फिर मिलेंगे। यों कह कर दोनों अपने-अपने स्थान को चले गये।

प्रकरण दूसरा (दोनों मित्र फिर मिलते हैं)

कर्मचंद—क्यों भाई! अब हम तप संबंधी चर्चा और आगे करेंगे? आप अपने बड़े भाई से ठीक-ठीक समझ आये हो न?

धर्मचंद—हाँ! किन्तु इस चर्चा को आगे बढ़ाने से पहले मैं आपसे कुछ जान लेना चाहता हूँ! यदि आप कहें तो पूछूँ?

कर्मचंद—बड़ी खुशी से पूछिये भाई साहब!

धर्मचंद—आप तो बड़े हैं, तब फिर अपने छोटे भाई से धर्म संबंधी बातें क्यों पूछा करते हैं?

कर्मचंद—मेरा छोटाभाई उत्साही युवक है। उसे धर्म-संगठन में विश्वास है, उसे धर्म का ज्ञान है, समाज में उसकी प्रतिष्ठा है, यद्यपि उसकी उमर छोटी है किन्तु वह बहुत ही समझदार है। उम्र और समझ का कोई संबंध नहीं होता, इसलिय मैं उससे धर्मसंबंधी बातें पूछा करता हूँ।

धर्मचंद—मैंने आपकी बात को समझ लिया। अब हम अपनी चर्चा को आगे बढ़ायें।

कर्मचंद—साधकदशा में शुभ और अशुभ इच्छा कैसे दूर होती होगी—क्या आप मुझे यह बतायेंगे ?

धर्मचंद—देखो भाई! भगवान ने कहा है कि ''सर्व जीव छे सिद्धसम, जे समजे ते थाय'' इससे यह सिद्ध हुआ कि पहले यह जानना चाहिये कि प्रथम जीव स्वयं 'सिद्धसम' कैसे है ? जो इसे समझेगा वह 'इच्छा रहित' होगा।

कर्मचंद—यह ठीक है किन्तु यह बात कुछ अधिक स्पष्ट होना चाहिये, क्योंकि तुमने जो कहा है उसमें भी जीव को आत्मस्वरूप समझने की इच्छा करने की बात तो आती ही है।

धर्मचंद—भाई सुनो! इच्छा रहित होने की विधि आपसे कहता हूँ। यह विधि यों है कि जब जीव आत्मस्वरूप समझने के लिये पुरुषार्थ करता है, तब पहले उसके राग (इच्छा) होती है। किन्तु पहले जीव को यह निश्चित करना चाहिये कि 'आत्मस्वरूप चेतनामय है और इच्छा मेरा स्वरूप नहीं है' और यह निश्चय करते हुये रागमिश्रित विचार आता है किन्तु वह राग मेरा नहीं है। इस प्रकार की प्रतीति होने से उतने अंश में राग कम हो जाता है।

कर्मचंद—यह ठीक है किन्तु क्या इतना निश्चय करने से काम चल सकता है कि इच्छा मेरा स्वरूप नहीं है ?

धर्मचंद—इतने से काम नहीं चल सकता, क्योंकि जब तक अपना 'हकार' स्वरूप नहीं समझा जायगा, तब तक 'नकार' स्वरूप भी नहीं समझा जा सकता। इसी बात को प्रकारांतर से यों भी कह सकते हैं कि जब तक जीव अपने 'अस्ति' स्वरूप को नहीं जानता, तब तक वह 'नास्ति' स्वरूप को भी यथार्थरूप में नहीं जान सकता। यथार्थ जान लेने पर 'अस्ति-नास्ति' बराबर समझा जा सकता है। जब तक दोनों पहलू समझ में नहीं आ जाते, तब तक अपना अस्तित्व बराबर नहीं समझा जा सकता।

कर्मचंद—इस बात को मैं भी स्वीकार करता हूँ, किन्तु इसमें 'इच्छा निरोध' कैसे आ गया ?

धर्मचंद—देखिये, वह इस तरह आ गया। जिसने अपना अस्तित्व निश्चित किया,

उसने यह निश्चित किया कि मैं निजरूप से हूँ और पररूप से नहीं हूँ। जीव का स्वभाव ही चैतन्य स्वभाव है, जब उसकी समझ में यह आ जाता है, तब वह स्वयं पररूप में नहीं है अर्थात् जड़रूप में नहीं है-'इच्छा' रूप में नहीं है यह भी निश्चित कर लिया।.....

कर्मचंद—आपकी यह बात ठीक है, किन्तु उसमें भी इच्छा मौजूद है।

धर्मचंद—भाई! आपका प्रश्न ठीक है किन्तु मैंने अभी अपना कथन पूरा नहीं किया है। आपको यह शंका हुई और प्रश्न पूछा, यह ठीक किया। किन्तु मेरे कथन को यदि क्रमशः सुनोगे तो उसमें सब स्पष्टीकरण हो जायगा। इसलिये क्या में अब अपनी बात आगे कहूँ?

कर्मचंद—भाई! अभी तो बहुत देर हो गई है और मुझे अन्यत्र जाना है, इसलिये फिर कभी मिलेंगे।

धर्मचंद—बड़ी खुशी की बात है। अब फिर हम अनुकूलता होने पर मिलेंगे।

[दोनों अपने-अपने स्थान को चले गये]

प्रकरण तीसरा [दोनों मित्र पुनः मिलते हैं।]

कर्मचंद—भाई! अब हम अपने उस सम्यक् तप की चर्चा को चलाऐं।

धर्मचंद—बहुत अच्छा! मैं जो कहूं उसे बराबर ध्यान में रखियेगा। मैंने आपसे पहले कहा था कि जीव को अपना 'अस्ति' और 'नास्ति' स्वरूप पहले निश्चित कर लेना चाहिये। और अपने अस्ति स्वरूप का निश्चय करते हुये यह जान लेना चाहिये कि 'इच्छा' मेरा स्वरूप नहीं है, वह क्षणिक है, और वह दूर की जा सकती है। इस प्रकार राग सहित प्रथम विचार में निश्चित करने के बाद जीव जब अपने लक्ष्य को पर से हटाकर अपने त्रिकालिक 'अस्ति' स्वरूप की और लक्ष्य करता है, तब उसे आत्मस्वरूप की प्रतीति प्रगट होती है। और मैं त्रिकालिक शुद्ध अखंड चेतनस्वरूप हूँ, ऐसी प्रतीति होने पर तथा राग (इच्छा) होने पर भी उस पर का स्वामित्व अभिप्राय में से निकल जाता है। क्यों समझ में आया?

कर्मचंद—हाँ! विचार करने पर तो यह बात समझ में आती है और मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि यह बात सच है। इसलिये अब आप इसे और आगे कहिये।

धर्मचंद—उपर्युक्त कथन के अनुसार जिस जीव को यथार्थ प्रतीति होती है, वह जीव अपनी प्रतीति को बल पूर्वक दुहराया करता है, तब उसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव के गृद्धिपना नहीं होता और वह हमेशा परावलम्बन को दूर करने के लिये तत्पर रहता है। इसलिये वह शक्ति के अनुसार तप करने का निश्चय करके २४ घंटे तक आहार इत्यादिक नहीं लेने की प्रतिज्ञा करता है, उस समय उसकी मान्यता निम्न प्रकार होती है।

(१) आहार नहीं लेने का जो रागमिश्रित विचार होता है, वह शुभभाव है और उसका फल पुण्य बंध है। मैं उसका स्वामी नहीं हूँ।

(२) अन्न-जल पर वस्तु है, इसलिये उसके त्याग करने का मेरा अधिकार नहीं है। किन्तु जब सम्यग्दृष्टि, परवस्तु पर से आलंबन छोड़ने का निश्चय करता है, तब पुद्गल परावर्तन के नियमानुसार ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध होता है कि उसके उतने समय तक आहार पानी के साथ संयोग नहीं होता। अन्न-जल का संयोग नहीं होने से न तो धर्म होता है और न बंध होता है।

(३) राग के अस्वामित्व का जो मेरा अभिप्राय है, वह दृढ़ होता है और इसलिये जो आहार इत्यादि लेने का अशुभराग सच्चे अभिप्रायपूर्वक दूर किया जाता है, वह धर्म का एक अंश है अर्थात् वह वीतरागता का अंश है और आहार नहीं लेने के शुभ विकल्प का वहाँ स्वामित्व नहीं, क्योंकि वह अंश है, इसलिये उतनी हद तक शुभाशुभ इच्छा का निरोध हुआ और वह भाव सम्यक् तप है।

कर्मचंद—आपने जो कहा है, उसके लिये गंभीर मनन की आवश्यकता है। मुझे मनन करने का अभ्यास है; इसलिये मैं बराबर उसका मनन करूँगा। साथ ही मैं परीक्षा करके यह निश्चय कर लेना चाहता हूँ कि यह बात ठीक है या नहीं।

धर्मचंद—मैं आपकी इस बात का अनुमोदन करता हूँ। क्योंकि भगवान की भी ऐसी ही आज्ञा है कि यदि किसी तत्त्व की बात का प्रतिपादन किया जाय तो उसका संपूर्ण पहलुओं से विचार करके, परीक्षा करके निर्णय करे, तभी जैनधर्म का यथार्थ स्वरूप समझ में आता है। इसलिये आप बराबर विचार करके अपने निर्णय से सूचित करना। अब हम फिर मिलेंगे।

[यों कहकर दोनों अपने-अपने स्थान को चले गये।]

प्रकरण चौथा

कर्मचंद—भाई! अपने जो कहा था, उस पर मैंने खूब विचार किया है, वह मुझे ठीक मालूम होता है। सर्व प्रकार की इच्छा का स्वामित्व अभिप्राय में से निकल जाने के कारण केवल चारित्र को सदोष करनेवाली इच्छा रह गई थी, उसमें अन्न-जल नहीं लेने की प्रतिज्ञा के द्वारा जो शुभ विकल्प हुआ, उसका जो 'नकार' होता है और जो आहार लेने के अशुभ भाव को रोका गया, उससे शुभाशुभ इच्छा का आंशिक निरोध हुआ और उससे सम्यक् तप हुआ, इस प्रकार मैं बराबर समझ गया हूँ। फिर भी एक प्रश्न उपस्थित होता है:—

तो फिर शास्त्र में बारह प्रकार का तप क्यों कहा गया है?

धर्मचंद—शास्त्र का कथन उपादान और निमित्त दो अपेक्षाओं को लेकर होता है।

निमित्तों को भिन्न-भिन्न होने से निमित्तों में भेद हो जाता है किन्तु उपादान तो आत्मा का शुद्ध भाव है, इसलिये उसमें भेद नहीं हो सकता। निमित्त की अपेक्षा से यह बारह भेद व्यवहार शास्त्रों में बताये गये हैं।

कर्मचंद—तो फिर निश्चय शास्त्र में सम्यक् तप का स्वरूप क्या कहा गया है? यह बतायेंगे।

धर्मचंद—श्री प्रवचनसार में उसकी व्याख्या निम्न प्रकार की गई है:—

''स्वरूप विश्रांत निस्तरंग चैतन्य प्रलपनाच्चतप:''

अर्थ—स्वरूप की स्थिरतारूप निस्तरंग (तरंग हीन, निर्विकल्प), चैतन्य का प्रलपन (देदीप्यमान होना), सो तप है अर्थात् वही सच्चा तप है।

इतना ध्यान में रखना कि सम्यग्दृष्टि के उपादान और निमित्त के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है।

कर्मचंद—हम जब स्वयं ही आहार का त्याग कर देंगे तो उससे आत्मस्वरूप न जानने पर निर्जरा क्यों न होगी?

धर्मचंद—इस संबंध में हम फिर जब मिलेंगे तब विशेष चर्चा करेंगे। (यों कह दोनों अपने स्थान को चले गये।) ★

सुवर्णपुरी में मांगलिक दिन

फाल्गुन शुक्ला द्वितीया

तीर्थधाम श्री सोनगढ़ में सं. १९९७ की फाल्गुन शुक्ला द्वितीया को सनातन जैन मंदिर में विरहमान तीर्थंकर श्री सीमंधर भगवान की भाववाहिनी प्रतिमा की प्रतिष्ठा परम पूज्य श्री सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के पवित्र करकमलों द्वारा की गई थी। वह प्रतिष्ठा महोत्सव एक सप्ताह तक हुआ था, और उसमें १५०० मुमुक्षु भाई-बहिनों ने भाग लिया था।

उस मंदिर में मूल नायक भगवान श्री सीमंधर स्वामी है। उनके दोनों ओर भगवान शान्तिनाथ तथा भगवान पद्मप्रभ स्वामी की भावपूर्ण प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की गई है। मंदिर के ऊपरी भाग में भगवान श्री नेमिनाथ प्रभु की प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई है।

परमपूज्य श्री सद्गुरुदेव सं. १९९५ में चातुर्मास के लिये राजकोट पधारे थे, उस समय आप १० महीने तक वहाँ रहे थे। तब सद्गुरुदेव के भक्त श्री नानालाल कालिदास, श्री बेचरदास कालिदास तथा श्री मोहनलाल कालिदास ने मंदिर बनवाने की अपनी इच्छा प्रगट की और उस भावना के परिणाम स्वरूप उक्त मंदिर की प्रतिष्ठा हुई। उस मंदिर में सभी मुमुक्षु भाई-बहिन भगवान की पूजा-आरती दर्शन और भक्ति का लाभ लेते हैं। इस प्रकार यह एक महान धर्मप्रभावना का कार्य सिद्ध हुआ है।

जब सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी सोनगढ़ में विराजमान होते हैं, तब शाम को व्याख्यान के बाद सदा मंदिर में नियमित पौन घंटा तक भक्ति का कार्य उनकी उपस्थिति में होता है।

प्रति वर्ष प्रतिष्ठा के मंगल दिन को महोत्सव होता है। उस समय बाहर से बहुत बड़ी संख्या में मुमुक्षु भाई-बहिन महोत्सव में भाग लेने आते हैं।

भगवान सीमंधर स्वामी का मंदिर शत्रुंजय क्षेत्र पर बहुत वर्ष पूर्व बना था, तथा भारत में और भी अनेक स्थानों पर है। जिन्हें यह ज्ञात नहीं है, उनके मन में यह प्रश्न उठा करता है कि भगवान सीमंधर स्वामी की प्रतिमाजी क्यों विराजमान की गई है। किन्तु जो वास्तविकता को जानते हैं, वे यह भी जानते हैं कि यह स्थापना केवल धर्मानुराग का निमित्त है।

इस वर्ष भी फाल्गुन शुक्ला द्वितीया को वार्षिक प्रतिष्ठा महोत्सव सोनगढ़ में होगा।

सत्देव, सत्शास्त्र और सत्गुरु का यथार्थ स्वरूप प्ररूपक

सत् पुरुष श्री कानजी स्वामी की जय हो।